

जैन

पथप्रदर्शक

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015 (राज.)

नैतिक एवं सामाजिक चेतना का अग्रदूत निष्पक्ष पाक्षिक

आज के इस अशांत जगत में अध्यात्म ही एक ऐसा दीपक है, जो भटकी हुई मानव सभ्यता को सन्मार्ग दिखा सकता है।

डॉ. आ. कुन्दकुन्द और पंच परमागम, पृ. 54

वर्ष : 30, अंक : 16

सम्पादक : पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

आजीवन शुल्क : 251 रुपये

नवम्बर (द्वितीय), 2007

प्रबन्ध सम्पादक : पण्डित संजीवकुमार गोधा

वार्षिक शुल्क : 25 रुपये

दीपावली पर व्याख्यानमाला

देवलाली (महा.) : यहाँ भगवान महावीरस्वामी के निर्वाण दिवस के अवसर पर दिनांक 6 नवम्बर से 10 नवम्बर, 07 तक श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट देवलाली द्वारा शिक्षण-शिविर एवं पंचकल्याणक विधान का आयोजन किया गया।

इस अवसर पर ख्यातिप्राप्त तार्किक विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के प्रतिदिन प्रवचनसार की गाथा-93-94 पर मार्मिक प्रवचनों का लाभ मिला। आपके अतिरिक्त पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री, ब्र. हेमचन्दजी 'हेम', पण्डित राजकुमारजी शास्त्री बांसवाड़ा, पण्डित अनिलकुमारजी शास्त्री भिण्ड के प्रवचनों का लाभ भी प्राप्त हुआ।

विधि-विधान के समस्त कार्य पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री ने सम्पन्न कराये। कार्यक्रम का आयोजन श्रीमती मंजुलाबेन चिमनलाल शाह परिवार हस्ते सुनीता-नितिनभाई शाह की ओर से किया गया।

शिविर के दौरान दिनांक 7 नवम्बर, 07 को श्री मुकुन्दभाई खारा का अभिनन्दन समारोह आयोजित किया गया, जिसके विस्तृत समाचार आगामी अंक में प्रकाशित किये जायेंगे।

तमिल भाषा में अनुवाद

कुन्दकुन्दादिक अनेक आचार्यों की साधनास्थली पावनभूमि तमिलनाडू में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, मोक्षमार्गप्रकाशक एवं समयसार ग्रंथों का तमिल भाषा में अनुवाद कर 'अरुण तत्त्वम्' नामक तमिल मासिक पत्रिका में प्रकाशन किया जा रहा है। जिससे तमिलनाडू में भी तत्त्व जिज्ञासुओं को तत्त्वलाभ मिल रहा है।

तमिल अनुवाद एवं प्रकाशित करने का कार्य श्री टोडरमल दि. जैन सि. महाविद्यालय, जयपुर के स्नातक डॉ. वि. धनकुमारजी जैन, श्री वी. सी. श्रीपालन, पण्डित जम्बूकुमारजी जैन एवं डॉ. उमापतिजी कर रहे हैं।

उदयपुर में धर्म प्रभावना

उदयपुर (राज.) : यहाँ दिगम्बर जैन मंदिर सिन्धी मार्केट में दिनांक 26 से 30 अक्टूबर तक मुम्बई से पधारी डॉ. शुद्धात्मप्रभाजी टडैया के प्रतिदिन प्रातः प्रवचनसार की गाथा 95 से 97 पर एवं सांयकाल नयचक्र पर सारगर्भित प्रवचन हुये। कार्यक्रम का आयोजन स्थानीय विद्वान पण्डित जिनेन्द्रजी शास्त्री के सहयोग से किया गया। ज्ञातव्य है कि आप उदयपुर में 'जैनदर्शन व विज्ञान' विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में भाग लेने पधारी थीं।

छहढाला शिविर सम्पन्न

मंगलायतन (अलीगढ़ - उ. प्र.) : यहाँ दिनांक 8 से 12 नवम्बर, 07 तक के.के.पी.पी.एस., उज्जैन एवं तीर्थधाम मंगलायतन के निर्देशन में भगवान महावीरस्वामी निर्वाण दिवस के प्रसंग पर छहढाला शिक्षण-शिविर का आयोजन किया गया।

शिविर में रत्नत्रय विधान का आयोजन श्री राजेन्द्रजी भान बरौलिया परिवार आगरावालों की ओर से हुआ। विधान के सम्पूर्ण कार्य ब्र. अभिनन्दनजी खनियौंधाना एवं पं. संजयजी जेवर के निर्देशन में सम्पन्न हुए।

शिविर में प्रतिदिन गुरुदेवश्री के छहढाला पर सी.डी. प्रवचनों के अतिरिक्त पण्डित ज्ञानचंदजी जैन सोनागिरि के पहली ढाल पर, पण्डित विमलचन्दजी झांझरी के दूसरी ढाल पर, पण्डित वीरेन्द्रकुमारजी आगरा के तीसरी ढाल पर, पण्डित राकेशजी शास्त्री के चौथी ढाल पर, पण्डित प्रदीपकुमारजी झांझरी के पाँचवी ढाल पर, पण्डित संजयकुमारजी जेवर के छठवी ढाल पर एवं पण्डित देवेन्द्रकुमारजी बिजौलिया के छहढाला सामान्य पर हुए प्रवचनों का लाभ मिला।

शिविर के दौरान रात्रि में छहढाला पर ही विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। इसी अवसर पर 'मानमर्दन' नामक नाटक एवं संगीतमय अक्षयनिधि आदि अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रम भी आयोजित किये गये। शिविर में लगभग 800 साधर्मियों ने धर्मलाभ लिया। इस अवसर पर 25,000/- रुपये का सत्साहित्य घर-घर पहुँचा।

प्रवेश फॉर्म शीघ्र भेजें

श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड, ए-4, बापूनगर, जयपुर (राज.) की शीतकालीन परीक्षा-2008 के छात्र प्रवेश फॉर्म सभी परीक्षा केन्द्रों को डाक से भेजे जा चुके हैं। कृपया उन्हें शीघ्र भरकर परीक्षाबोर्ड कार्यालय, जयपुर को भिजवा दें।

डाक की गड़बड़ी से जिन परीक्षा केन्द्रों को प्रवेश फॉर्म नहीं पहुँचे हों, वे कृपया परीक्षा बोर्ड को पत्र लिखकर मंगा लें।

डॉ. ओमप्रकाश आचार्य, प्रबन्धक - परीक्षा बोर्ड

सम्पादकीय -

दिगम्बर मुनि नग्न ही क्यों?

डॉ. पण्डित रतनचन्द्र भारिल्लु

दिगम्बर मुनि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त, अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप आत्मा में अनुरक्त, सभी प्रकार के आरंभ व परिग्रह से रहित दिन-रात ज्ञान, ध्यान एवं तप में निमग्न रहते हैं।

दिगम्बर मुनियों के हृदय में सब संसारी जीवों के प्रति ऐसा करुणाभाव होता है कि सभी प्राणी वस्तुस्वरूप को समझकर सन्मार्ग में लगें। एतदर्थ वे शास्त्र लिखते हैं, उपदेश देते हैं। उनकी दृष्टि में शत्रु-मित्र, महल-मशान, कंचन-कांच, निन्दा-प्रशंसा आदि में कोई अन्तर नहीं होता। वे पदपूजक और अस्त्र-शस्त्र प्रहारक में सदा समताभाव धारण करते हैं।

दिगम्बर मुनि पूर्ण स्वावलम्बी और स्वाभिमानी होते हैं। यही कारण है कि वे तिल-तुष मात्र परिग्रह नहीं रखते, नग्न रहते हैं और सिंहवृत्ति से निर्भय रहते हैं एवं भ्रमरवृत्ति से आहार लेते हैं। जब अर्द्धरात्रि में सारा जगत मोह की नींद में सो रहा होता है अथवा विषय-वासनाओं में मग्न होकर मुक्ति के निष्कण्टक पथ में विषकण्टक बो रहा होता है, तब दिगम्बर मुनि अनित्य आदि बारह भावनाओं के माध्यम से संसार, शरीर व भोगों की क्षणभंगुरता, अशरणता आदि का चिन्तन करते हुए आत्मध्यान में मग्न रहने का पुरुषार्थ करते रहते हैं। काम-क्रोध-मद-मोह आदि विकारों पर विजय प्राप्त करते हुए अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करते रहते हैं।

वे नवजात शिशुवत् अत्यन्त निर्विकारी होने से नग्न ही रहते हैं। उन्हें वस्त्र धारण करने का विकल्प ही नहीं आता, आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। जिसतरह कामवासना से रहित बालक माँ बहन के समक्ष लजाता नहीं है, शर्माता नहीं है एवं संकोच भी नहीं करता, निशंक रहता है। ठीक इसीतरह मुनि भी पूर्ण निर्विकारी होने के कारण लज्जित नहीं होते।

छटवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में वस्त्र धारण करने का मन में विकल्प ही नहीं आता। संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ के सिवाय अनन्तानुबंधी आदि तीनों कषायों की चौकड़ी का अभाव हो जाने से उनके पूर्ण निर्ग्रन्थ दशा प्रकट हो गई है। इस तरह जब उनके मन में ही कोई ग्रन्थि (गांठ) नहीं रही तो तन पर वस्त्र की गांठ कैसे लग सकती है? जैसे नग्न नवजात शिशु को देखकर माँ-बहिनें भी नहीं लजातीं, उसीप्रकार निर्विकारी मुनि को देखकर माँ-बहिनें लजाती नहीं हैं; बल्कि उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति विशेष बढ़ जाती है।

वैसे सवस्त्र व निर्वस्त्र के पक्ष-विपक्ष में अनेकों तर्क दिये जा सकते हैं, उनके लाभ-अलाभ गिनाये जा सकते हैं। पर वे सब कुतर्क होंगे; क्योंकि वस्तु स्वरूप में कोई तर्क नहीं चलता। वस्तु का स्वरूप तो तर्क-वितर्क से परे है। इसके पीछे तर्क नहीं चलता कि अग्नि गर्म व पानी ठंडा क्यों है? नारी के मूँछे व मोरनी के पंख क्यों नहीं होते? इसके पीछे तर्क खोजने की जरूरत नहीं है। लौकिक दृष्टि से भी साधुओं को सामाजिक सीमाओं में नहीं घेरा जा सकता है, क्योंकि वे लोकव्यवहार

से अतीत हो चुके हैं। वे तो वनवासी सिंह की तरह पूर्ण स्वतंत्र स्वावलम्बी, अत्यन्त निर्भय एवं एकान्त प्रिय होते हैं। इसीकारण वे मुख्यतया एकान्तवासी ही होते हैं।

वस्त्र तो अंतरंग वासना के एवं मनोविकार के प्रतीक हैं, पराधीनता के कारण हैं, भय, चिन्ता तथा आकुलता उत्पन्न कराने में एवं ममता, मोह बढ़ाने में निमित्त हैं, अतः मुनि नग्न ही रहते हैं।

जो इन्द्रियों को जीतता है, वही जितेन्द्रिय है। मुनियों ने इन्द्रियों को जीत लिया है, अतः वे जितेन्द्रिय हैं।

जिसे अखण्ड आत्मा को प्राप्त करना हो उसे अखंड स्पर्शन इन्द्रिय को जीतना ही होगा। जिसतरह शरीर में लगी छोटी सी फांस भी असह्य वेदना का कारण बनती है, उसी तरह एक वस्त्र का परिग्रह असीम दुःख का कारण है और जब दिगम्बर मुनि को जितेन्द्रिय होने से वस्त्रादि की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होता तो वह वस्त्रों का परिग्रह रखकर अनावश्यक मुसीबतों को आमंत्रण ही क्यों देंगे?

जब व्यक्ति को एक वस्त्र की झंझट छूट जाने से हजारों अन्य झंझटों से सहज ही मुक्ति मिल जाती हो तो वह बिना वजह वस्त्र का बोझा ढोये ही क्यों? एक लंगोटी के स्वीकार करते ही पूरा का पूरा परिग्रह माथे मढ़ जाता है।

उदाहरणार्थ ह्व लंगोटी धारी साधु को दूसरे ही दिन लंगोटी बदलने के लिए दूसरी लंगोटी चाहिए, फिर उसे धोने के लिए पानी-साबुन, रख-रखाव के लिए पेटी, पानी के लिए बर्तन, बर्तन के लिए घर, घर के लिए घरवाली, घरवाली के भरण-पोषण के लिए धंधा-व्यापार, कहाँ तक अन्त आयेगा इसका? पूजन की पंक्ति में ठीक ही कहा है ह्व

“फांस तनक ही तन में साले, चाह लंगोटी की दुःख भाले।”

सवस्त्र साधु पूर्ण अहिंसक, निर्मोही और अपरिग्रही रह ही नहीं सकता। अयाचक, स्वाधीन व स्वावलम्बी भी नहीं रह सकता। वह लज्जा परीषहजयी भी नहीं हो सकता, क्योंकि वस्त्र के प्रति अनुराग एवं ममता बिना वस्त्र का शरीर पर बहुत काल तक रहना एवं उसे बदलना संभव नहीं है और राग एवं ममत्व ही तो भावहिंसा है।

अन्नपान (भोजन) के पक्ष में भी कदाचित् कोई यही तर्क दे सकता है, पर आहार लेना अशक्यानुष्ठान है। आहार के बिना तो जीवन संभव ही नहीं है, फिर भी वे अयाचकता तथा निस्पृह वृत्ति से ही आहार लेते हैं। वस्त्र के साथ यह समस्या नहीं है।

दूसरे यदि स्वाभिमान के साथ निर्दोष व निरन्तराय भोजन न मिले तो छोड़ा भी जा सकता है, छोड़ भी दिया जाता है; पर वस्त्र के साथ ऐसा होना संभव नहीं है। ऐसा नहीं हो सकता है कि आज वस्त्र न पहने जायें और कल पहन लिए जायें। वस्त्रों को तो हर हालत में वस्त्र धारण करना और फिर उन्हें बदलना ही होगा एवं रख रखाव की व्यवस्था भी करनी ही होगी। अतः वस्त्र धारण करने में दीनता-हीनता एवं पराधीनता की संभावना अधिक है।

दिगम्बरत्व मुनिराज का भेष या ड्रेस नहीं है, जिसे मनमाने ढंग से जब चाहें तब बदला जा सके। यह तो उसका स्वाभाविक रूप है, स्वरूप है। अपने मन को इसकी स्वाभाविकता स्वीकृत है, एतदर्थ एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक आर्केमिडीज की उस घटना का स्मरण किया जा सकता है,

जिसमें वह सारे नगर में नंगा घूमा था। उसके बारे में कहा जाता है कि वह एक वैज्ञानिक तथ्य की खोज में बहुत दिनों से परेशान था। दिन-रात उसी के सोच विचार में डूबा रहता था। एक दिन बाथरूम में नमन होकर स्नान कर रहा था कि अचानक उसे उक्त तथ्य का समाधान मिल गया, जिससे उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। वह भावविभोर हो स्नान घर से वैसा नंगा ही निकलकर नगर के बीच से गुजरता हुआ दौड़ता-दौड़ता राजा के पास जा पहुँचा। उसे नग्न देखकर राजा को आश्चर्य भी हो रहा था और हंसी भी आ रही थी। पर उस वैज्ञानिक के लिए वह अस्वाभाविक नहीं था।

ऐसी धुन के बिना कोई भी बड़ी शोध-खोज संभव नहीं है। चाहे वह ज्ञान-विज्ञान की हो या सर्वज्ञ स्वभावी भगवान आत्मा की हो।

आर्कमिडीज भी अपने धुन का धुनिया था। राजा क्या कह रहा है, क्या कर रहा है, इसकी परवाह किए बिना वह तो अपनी ही कहे जा रहा था, अपनी उपलब्धि के गीत गाये जा रहा था। अपनी नग्नता पर उसका ध्यान ही नहीं था, दिगम्बर मुनि भी ऐसे ही अपने आत्मा की शोध-खोज में इतने मग्न रहते हैं कि उन्हें भी वस्त्र का परिग्रह रखने की न सुध-बुध होती है और न ही फुरसत। अतः वे पूर्ण निर्ग्रन्थ ही रहते हैं।

दिगम्बरत्व की स्वाभाविकता सहजता और निर्विकारता के साथ उसकी अनिवार्यता से अपरिचित कतिपय महानुभावों को मुनि की नग्नता में असभ्यता और असामाजिकता दृष्टिगोचर होती है। अतः ऐसे लोग नग्नता से नाक-भौं सिकोड़ते रहते हैं, घृणा का भाव भी व्यक्त करते रहते हैं, पर ऐसे व्यक्तियों को नग्नता को निर्विकारता के दृष्टिकोण से देखना चाहिए।

हाँ, केवल तन से नग्न होने का नाम दिगम्बरत्व नहीं है, आत्मज्ञान के साथ राग-द्वेष व कामादि विकारों से रहित होकर नमन होना ही सच्चा दिगम्बरत्व है। ऐसी नग्नता कभी अशिष्टता नहीं हो सकती, लज्जाजनक नहीं हो सकती। निर्विकारी हुए बिना नग्नता निश्चित ही निंदनीय है।

हिन्दु धर्म के प्रसिद्ध पौराणिक पुरुष शुक्राचार्य के कथानक से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि 'तन से नग्नता के साथ मन का निर्विकारी होना कितना आवश्यक है, अन्यथा जो नग्नता पूज्य है वही निंद्य भी हो जाती है।

कहा जाता है कि मुनि शुकदेव युवा थे, पर शिशुवत् निर्विकारी थे। अतः सहजभाव से नमन रहते थे। एक दिन वे एक तालाब के किनारे जा रहे थे, वहाँ देवकन्यायें निर्वस्त्र होकर स्नान व जलक्रीड़ा कर रही थीं, मुनि शुकदेवजी को देखकर जैसे ही स्नान करती रहीं, जरा भी नहीं लजाईं। वे सभी एक-दूसरे की नग्नता से जरा भी प्रभावित नहीं हुए।

थोड़ी देर बाद उन्हीं के वयोवृद्ध पिता महर्षि वेदव्यास वहाँ से निकले, उन्हें देखते ही सभी देवकन्यायें लजा गईं। वे न केवल लजाईं बल्कि क्षुब्ध भी हो गईं। जलक्रीड़ा को जलांजलि देकर हड़-बड़ में तालाब से निकली और सबने अपने-अपने वस्त्र पहन लिये और लज्जा से अपनी सुध-बुध खो बैठीं। एक नंगे युवा को देखकर तो लजाईं नहीं और सबस्र एक वृद्ध व्यक्ति को देखकर लजा गईं।

जरा सोचिए! इसका क्या कारण हो सकता है ? बस यही न कि तन से नंगा युवक मन से भी नंगा था, निर्विकारी था और उसके पिता अभी मन से पूर्ण निर्विकारी नहीं हो सके थे। यह बात नारियों की निगाह से

छिपी नहीं रही, रह भी नहीं सकती। कोई कितना भी छिपाये, विकार तो सिर पर चढ़कर बोलता है। उक्ति है ह "मुखाकृति कह देत है, मैले मन की बात।"

नग्नता से नफरत करने का अर्थ है कि हमें अपना निर्विकारी होना पसंद नहीं है। विकारी रहना एवं उसे वस्त्रों से छुपाये रहना ही पसंद है। जैसे शरीर के घावों को खुला रखना भी तो मौत को आमंत्रण देना है, उन्हें ढकना ही पड़ता है, वैसे ही यदि मन में विकार के घाव हैं तो तन को वस्त्र से ढकना भी अनिवार्य है।

वीतरागी भावना के बिना अर्थात् निर्विकारी हुए बिना नग्नता तो मात्र कलंक ही है। अतः तन की नग्नता के साथ मन की नग्नता अनिवार्य है। इसीलिए तो कहा है कि 'सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दृढ चारित्र लीजै।'

बिना आत्मज्ञान के भी कभी-कभी व्यक्ति मुनिव्रत अंगीकार कर लेता है, जिससे कोई लाभ नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं ह

णगगो पावदी दुःखं णगगो संसार सागरे भमदि।

णगगोणलहहि बोहिं, जिणभावण वज्जिदो सुचिरं।।

(हरिगीत)

हों नग्न पर दुख सहें, अर संसारसागर में रुलें।

जिन भावना बिन नग्नतन भी बोधि को पाते नहीं।।

जिन भावना से रहित केवल तन से नग्न व्यक्ति दुःख पाता है, वह संसार सागर में ही गोते खाता है, उसे बोधि की प्राप्ति नहीं होती है।

अतः तन से नग्न होने के पहले मन से नग्न अर्थात् आत्मानुभवी एवं निर्विकारी होना आवश्यक है।"

जिनागम के सिवाय अन्य जैनैतर शास्त्रों एवं पुराणों में भी दिगम्बरत्व एवं दिगम्बर मुनियों के अनेक उल्लेख मिलते हैं, कुछ इसप्रकार हैं ह

● रामायण में दिगम्बर मुनियों की चर्चा है ह "राजा दशरथ जैन श्रमणों को आहार देते बताये गये हैं। भूषण टीका में श्रमण का अर्थ स्पष्ट दिगम्बर मुनि मिलता है।"

● हिन्दू धर्म के प्रसिद्ध पुराण श्रीमद् भागवत् और विष्णु पुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का ही दिगम्बर मुनि के रूप में उल्लेख मिलता है। इसी तरह वायुपुराण एवं स्कंध पुराण में भी दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व दर्शाया गया है।

● बौद्ध शास्त्रों में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जो भगवान महावीर से पहले दिगम्बर मुनियों का होना सिद्ध करते हैं।

● ईसाई धर्म में भी दिगम्बरत्व को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि आदम और हव्वा नंगे रहते हुए कभी नहीं लजाये और न वे विकार के चंगुल में फंसकर अपने सदाचार से हाथ धो बैठे, परन्तु जब उन्होंने पाप-पुण्य का वर्जित (निषिद्ध) फल खा लिया तो वे अपनी प्राकृत दशा खो बैठे और संसार के साधारण प्राणी हो गये।

● इस्लाम धर्म में भी ऐसे दरबेश हुए हैं, जो दिगम्बरत्व के हिमायती थे। तुर्किस्तान में अब्दल नामक दरवेश नंगे रहकर अपनी साधना में लीन रहते थे।

● इस्लाम के महान सूफी तत्त्ववेत्ता और सुप्रसिद्ध 'मस्नवी' नामक ग्रन्थ

(शेष पृष्ठ 8 पर ...)

तत्त्वचर्चा

छहढाला का सार

17

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

(गतांक से आगे ...)

संसार भावना की चर्चा करते हुये इस छहढाला में भी यही कहा गया है -

चहुँगति दुःख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।

सब विधि संसार-असारा, यार्में सुख नाहिं लगारा ॥

चारों गतियों में सर्वत्र दुःखी जीव ही भरे हुये हैं, जो निरन्तर पंच परावर्तन कर रहे हैं। यह संसार सम्पूर्णतः असार है; इसमें रंचमात्र भी सुख नहीं है।

कविवर पण्डित भूधरदासजी ने भी संसार भावना में यही कहा है, जो इसप्रकार है -

दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान।

कबहु न सुख संसार में सब जग देखयो छान ॥

गरीब पैसों के बिना दुःखी है और धनवान तृष्णा के वश होकर दुःखी हो रहे हैं। हमने सारे संसार को छान मारा है; इसमें कहीं भी सुख दिखाई नहीं देता।

कविवर पण्डित भूधरदासजी द्वारा रचित वैराग्यभावना में संसार की स्थिति का जो चित्रण किया गया है; वह इसप्रकार है -

सुगति में परसम्पत्ति देखे राग-उदय दुख होई।

मानुष योनि अनेक विपत्तिमय सर्वसुखी नहिं कोई ॥

कोई इष्ट-वियोगी बिलखे कोई अनिष्ट-संयोगी।

कोई दीन दरिद्री बिगूचे, कोई तन के रोगी ॥

किस ही घर कलिहारी नारी के बैरी सम भाई।

किस ही के दुख बाहिर दीखे किस ही उर दुचिताई ॥

कोई पुत्र बिना नित झूरे होय मरे तब रोवे।

खोटी संतति सों दुख उपजे क्यों प्राणी सुख सोवे?

पुण्य उदय जिनके तिनके भी नाहिं सदा सुख साता।

यह जगवास जधारथ देखे सब दीखे दुखदाता ॥

जो संसार विषे सुख हो ती तीर्थकर क्यों त्यागें?

काहे को शिव-साधन करते संजम सौं अनुरागें?

राग के उदय से देवगति में दूसरों की सम्पत्ति को देख-देखकर दुःख होता है और मनुष्ययोनि में भी अनेक विपत्तियाँ हैं। यहाँ पूर्णतः सुखी कोई नहीं है।

कोई इष्ट के वियोग में बिलख-बिलखकर रो रहा है तो कोई अनिष्ट के संयोग से दुःखी है। कोई दीन-दरिद्री होने से दुःखी है तो किसी का शरीर रोगग्रस्त है।

किसी के घर में नित्य कलह करनेवाली पत्नी है तो किसी के घर में शत्रु के समान व्यवहार करनेवाला भाई है। किसी-किसी के दुःख बाहर से दिखाई देते हैं तो किसी के हृदय में अनेक प्रकार की दुश्चिन्तायें लगी हुई हैं।

कोई व्यक्ति पुत्र नहीं होने से दुःखी है, निरन्तर झूटा रहता है; किसी का पुत्र होने पर भी मर जाने से वह रो रहा है और किसी के संतान है तो पर खोटी है, इसलिये दुःखी है। ऐसी स्थिति में यह प्राणी सुख की नींद कैसे सो सकता है?

जिनके पुण्य का उदय है, उनको भी सदा सुख नहीं है। इस जगत को यथार्थ रूप से देखें तो सभी दुःख देनेवाले ही दिखाई देते हैं।

अरे भाई ! जरा विचार तो करो कि यदि इस चतुर्गति-भ्रमणरूप संसार में सुख होता तो तीर्थकर जैसे पुण्यवंत महापुरुष इसे छोड़कर क्यों चले जाते, संयम धारण कर मुक्ति प्राप्त करने का पुरुषार्थ क्यों करते?

संयोगों में सुख खोजना समय और शक्ति का अपव्यय है। जिसप्रकार कितना ही मंथन क्यों न करो, पानी में से नवनीत निकलना सम्भव नहीं है; कितना ही पेलो, बालू में से तेल निकलना सम्भव नहीं है; उसीप्रकार सुख की प्राप्ति के लिये संयोगों की शोध-खोज में किये गये सम्पूर्ण प्रयत्न निरर्थक ही हैं, उनसे सुख की प्राप्ति कभी भी सम्भव नहीं है।

सुख की प्राप्ति के लिये तो सुख के सागर निजस्वभाव की शोध-खोज आवश्यक है, निजस्वभाव का आश्रय आवश्यक है; उसी का ज्ञान-श्रद्धान आवश्यक है, ध्यान आवश्यक है।

- इसप्रकार का चिन्तन ही संसारभावना का मूल है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनित्यभावना में संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणभावना में संयोगों की अशरणता और संसारभावना में संयोगों की असारता का, निरर्थकता का चिन्तन किया जाता है और संयोगों पर से दृष्टि हटाकर स्वभावसन्मुख होने का प्रयास किया जाता है।

इस पर कोई कहता है कि संसार में दुःख ही दुःख है तो कोई बात नहीं है; क्योंकि हम अकेले थोड़े ही हैं, मिलजुलकर सबकुछ भोग लेंगे।

उनसे आगे एकत्व और अन्यत्व भावना में कहते हैं कि इस लोक में मिलजुलकर भोगने की कोई व्यवस्था नहीं है; प्रत्येक प्राणी को स्वयंकृत कर्मों का फल अकेले ही भोगना होगा। जैसा कि कहा है -

शुभ-अशुभ कर्म फल जेते, भोगे जिय एक हि ते ते।

सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी ॥

जल-पय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।

तो प्रकट जुदे धन धामा, क्यों द्वै इक मिलि सुत रामा ॥

शुभ और अशुभ कर्मों के जितने भी फल प्राप्त होते हैं; उन सभी को जीव स्वयं अकेले ही भोगता है। उक्त फल भोगने में स्त्री-पुत्रादि साथी नहीं हैं; क्योंकि सभी लोग स्वार्थ के साथी हैं।

• यद्यपि जिसप्रकार दूध और पानी का मिलाप होता है, उसीप्रकार का मिलाप जीव और शरीर का है; तथापि जिसप्रकार दूध और पानी भिन्न-भिन्न ही हैं, उसीप्रकार शरीर और जीव भी भिन्न-भिन्न ही हैं। जब शरीर और जीव की यह स्थिति है तो फिर धन, मकान, पत्नी और पुत्र तो प्रगट रूप से भिन्न ही हैं; वे अभिन्न कैसे हो सकते हैं ?

पण्डित भूधरदासजी भी इस बात को इसीप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

आप अकेला अचतरे मरे अकेला होय।

यो कबहूँ या जीव को साथी सगा न कोय ॥

जहाँ देह अपनी नहीं तहाँ न अपना कोय।

घर सम्पत्ति पर प्रगट हैं, पर हैं परिजन लोच ॥

यह जीव स्वयं अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरण को प्राप्त होता है। इसप्रकार इस जीव का कोई सगा साथी नहीं है।

अरे भाई ! जब शरीर ही अपना नहीं है, तब अन्य कोई अपना कैसे हो सकता है ? घर, सम्पत्ति और कुटुम्बीजन तो प्रगट रूप से पर हैं; उन्हें अपना कैसे माना जा सकता है ?

एकत्व और अन्यत्व भावना के सन्दर्भ में भी जगत की समझ ठीक नहीं है; क्योंकि इनके चिन्तन से भी यह खेद-खिन्न हो जाता है।

'इस जीव के जन्म-मरण में, सुख-दुःख में; माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि कोई साथ नहीं देता, सबकुछ अकेले ही भोगना पड़ता है' - उक्त चिन्तन वैराग्योत्पादक नहीं, द्वेषोत्पादक है; क्योंकि अबतक यह सोचकर कि ये कुटुम्बीजन सुख-दुःख में मेरा साथ देंगे, उनसे राग करता था और अब यह जानकर कि साथ नहीं देते, द्वेष करने लगता है।

बारह भानाओं के चिन्तन से तो रागभाव टूटकर वैराग्यभाव होना चाहिये; पर इस चिन्तन से तो राग के स्थान पर द्वेषभाव होगा।

अरे भाई ! बात यह है कि स्त्री-पुत्रादि साथ देते नहीं हैं या दे नहीं सकते ? - दोनों बातों में बहुत बड़ा अन्तर है।

जब हम यह सोचते हैं कि साथ देते नहीं हैं तो राग के स्थान पर द्वेष हो जाता है; किन्तु जब हम यह सोचते हैं कि साथ दे नहीं सकते, तब राग-द्वेष का अभाव होकर वैराग्य हो जाता है, वीतरागभाव पैदा होता है, साम्यभाव पैदा होता है।

यस्तुस्थिति भी यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयंकृत कर्मों का फल स्वयं ही भोगना होता है, कोई अन्य व्यक्ति उसे बाँट नहीं सकता।

इसीप्रकार इसे इस बात का दुःख है कि इस जीव को जन्म-मरण के दुःख भी अकेले ही भोगने पड़ते हैं, स्वर्ग-नरक-निगोद में भी अकेले ही जाना पड़ता है।

पर भाईसाहब ! सोचने की बात यह है कि क्या आप यह चाहते हैं कि आपके साथ ही आपके बाल-बच्चे भी मर जावें ? नहीं तो फिर यह शिकायत क्यों ? जन्म के सम्बन्ध में भी बात ऐसी है कि यदि आपका पुत्र

आपका जन्म का साथी होता तो फिर वह पुत्र नहीं, जुड़वा भाई होता। यदि पत्नी जन्म की साथी होती तो वह भी पत्नी नहीं, जुड़वा बहिन होती।

एक बात यह भी तो है कि मनुष्यगति में तो अधिकांश लोगों का जन्म अकेले ही होता है। यदि आपको जन्म के साथी चाहिये थे तो फिर कूकरी-सूकरी के उदर से जन्म लेते तो वहाँ पाँच-सात का साथ तो मिल ही जाता। इसमें भी अधिक का साथ चाहिये तो फिर सर्पिणी के पेट से पैदा होते तो वहाँ हजारों का साथ मिल जाता।

यह तो आप जानते होंगे कि सर्पिणी के एक साथ हजारों बच्चे पैदा होते हैं; पर यह ध्यान रहे वह सर्पिणी कुण्डली मारकर उसमें बच्चों को जन्म देती है और उनके जन्मते ही उन्हें खा जाती है। वे जान बचाकर भागते हैं। मिट्टी में लुक-छिपकर दस-बीस मुश्किल से बच पाते हैं। दस-बीस बचते हैं, तब तो दुनियाँ में इतने साँप हैं। यदि सभी बच जाते तो दुनियाँ में साँप ही साँप होते।

जिस माँ के हजारों बच्चे एकसाथ पैदा होते हैं, उस माँ का हृदय ऐसा निर्दयी होता है कि स्वयं माँ बच्चों को खा जाती है और जिसका बच्चा अकेला पैदा होता है, उसकी माँ उसकी चिन्ता मरते दम तक रखती है।

यदि तुम्हारा काम इतने साथियों से भी न चले तो फिर एक स्थान ऐसा भी है कि जहाँ अनन्त जीव एक साथ जन्मते हैं और एक साथ मरते हैं; उस स्थान का नाम है निगोद। इसप्रकार साथ की भावना निगोद की भावना है और एकत्व की भावना मोक्ष की भावना है।

इस जगत में एकत्व ही सत्य है, शिव है और सुन्दर है। मैंने तो बहुत पहले लिखा था कि -

ले दीलत प्राणप्रिया को तुम मुक्ति न जाने पावोगे।

यदि एकाकी चल पड़े नहीं तो यही खड़े रह जावोगे ॥

पर से भिन्नता और अपने में अखण्डता-एकता आत्मा का सौन्दर्य है; यह आत्मा का परम सौभाग्य है, क्योंकि यह आनन्द का जनक है।

अनित्य, अशरण और संसार भावना में संयोगों की अनित्यता, अशरणता और असारता बताने के उपरान्त एकत्व और अन्यत्व भावना में आत्मा का स्वयं से एकत्व और पर से भिन्नत्व की चर्चा करने पश्चात् अब अशुचि भावना में अत्यन्त नजदीक के संबोगरूप शरीर की अशुचिता की चर्चा करते हैं।

आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाही इस शरीर की वास्तविक स्थिति क्या है ? - यह बताते हुये पण्डित दीलतरामजी इसी उलहाला में लिखते हैं-

पल रुधिर राध मल धैली, कीकस वसादि तैं मैली।

नव द्वार बहै धिनकारी, अस देह करे किम यारी ॥

कफ, चर्बी आदि से मैली-कुचेली यह देह मांस, खून एवं पीपरूपी मल की धैली है। इसके आँख, कान, नाक, मुँह आदि नौ द्वारों से निरन्तर घृणास्पद मैले पदार्थ ही बहते रहते हैं। हे आत्मन् ! तू ऐसी घृणास्पद इस देह से यारी (भिन्नता, स्नेह) क्यों करता है ?

(क्रमशः)

तत्त्वचर्चा

छहढाला का सार

17

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

(गतांक से आगे ...)

संसार भावना की चर्चा करते हुये इस छहढाला में भी यही कहा गया है ह

चहुँगति दुःख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।

सब विधि संसार-असारा, यामें सुख नाहिं लगाया ॥

चारों गतियों में सर्वत्र दुःखी जीव ही भरे हुये हैं, जो निरन्तर पंच परावर्तन कर रहे हैं। यह संसार सम्पूर्णतः असारा है; इसमें रंचमात्र भी सुख नहीं है।

कविवर पण्डित भूधरदासजी ने भी संसार भावना में यही कहा है, जो इसप्रकार है ह

दाम विना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान ।

कबहु न सुख संसार में सब जग देख्यो छान ॥

गरीब पैसों के बिना दुःखी है और धनवान तृष्णा के वश होकर दुःखी हो रहे हैं। हमने सारे संसार को छान मारा है; इसमें कहीं भी सुख दिखाई नहीं देता।

कविवर पण्डित भूधरदासजी द्वारा रचित वैराग्यभावना में संसार की स्थिति का जो चित्रण किया गया है; वह इसप्रकार है ह

सुरगति में परसम्पत्ति देखे राग-उदय दुख होई ।

मानुष योनि अनेक विपत्तिमय सर्वसुखी नहिं कोई ॥

कोई इष्ट-वियोगी बिलखै कोई अनिष्ट-संयोगी ।

कोई दीन दरिद्री बिगूचे, कोई तन के रोगी ॥

किस ही घर कलिहारी नारी कै बैरी सम भाई ।

किस ही के दुख बाहिर दीखै किस ही उर दुचिताई ॥

कोई पुत्र बिना नित झूरै होय मरै तब रोवै ।

खोटी संतति सों दुख उपजै क्यों प्राणी सुख सोवै ?

पुण्य उदय जिनके तिनके भी नाहिं सदा सुख साता ।

यह जगवास जथारथ देखे सब दीखै दुखदाता ॥

जो संसार विषैं सुख हो तौ तीर्थकर क्यों त्यागें ?

काहे को शिव-साधन करते संजम सौं अनुरागैं ?

राग के उदय से देवगति में दूसरों की सम्पत्ति को देख-देखकर दुःख होता है और मनुष्ययोनि में भी अनेक विपत्तियाँ हैं। यहाँ पूर्णतः सुखी कोई नहीं है।

कोई इष्ट के वियोग में बिलख-बिलखकर रो रहा है तो कोई अनिष्ट के संयोग से दुःखी है। कोई दीन-दरिद्री होने से दुःखी है तो किसी का शरीर रोगग्रस्त है।

किसी के घर में नित्य कलह करनेवाली पत्नी है तो किसी के घर में शत्रु के समान व्यवहार करनेवाला भाई है। किसी-किसी के दुःख बाहर से दिखाई देते हैं तो किसी के हृदय में अनेक प्रकार की दुश्चिन्तायें लगी हुई हैं।

कोई व्यक्ति पुत्र नहीं होने से दुःखी है, निरन्तर झूरता रहता है; किसी का पुत्र होने पर भी मर जाने से वह रो रहा है और किसी के संतान है तो पर खोटी है, इसलिये दुःखी है। ऐसी स्थिति में यह प्राणी सुख की नींद कैसे सो सकता है ?

जिनके पुण्य का उदय है, उनको भी सदा सुख नहीं है। इस जगत को यथार्थ रूप से देखें तो सभी दुःख देनेवाले ही दिखाई देते हैं।

अरे भाई ! जरा विचार तो करो कि यदि इस चतुर्गति-भ्रमणरूप संसार में सुख होता तो तीर्थकर जैसे पुण्यवंत महापुरुष इसे छोड़कर क्यों चले जाते, संयम धारण कर मुक्ति प्राप्त करने का पुरुषार्थ क्यों करते ?

संयोगों में सुख खोजना समय और शक्ति का अपव्यय है। जिसप्रकार कितना ही मंथन क्यों न करो, पानी में से नवनीत निकलना सम्भव नहीं है; कितना ही पेलो, बालू में से तेल निकलना सम्भव नहीं है; उसीप्रकार सुख की प्राप्ति के लिये संयोगों की शोध-खोज में किये गये सम्पूर्ण प्रयत्न निरर्थक ही हैं, उनसे सुख की प्राप्ति कभी भी सम्भव नहीं है।

सुख की प्राप्ति के लिये तो सुख के सागर निजस्वभाव की शोध-खोज आवश्यक है, निजस्वभाव का आश्रय आवश्यक है; उसी का ज्ञान-श्रद्धान आवश्यक है, ध्यान आवश्यक है।

ह इसप्रकार का चिन्तन ही संसारभावना का मूल है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनित्यभावना में संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणभावना में संयोगों की अशरणता और संसारभावना में संयोगों की असारता का, निरर्थकता का चिन्तन किया जाता है और संयोगों पर से दृष्टि हटाकर स्वभावसन्मुख होने का प्रयास किया जाता है।

इस पर कोई कहता है कि संसार में दुःख ही दुःख है तो कोई बात नहीं है; क्योंकि हम अकेले थोड़े ही हैं, मिलजुलकर सबकुछ भोग लेंगे।

उनसे आगे एकत्व और अन्यत्व भावना में कहते हैं कि इस लोक में मिलजुलकर भोगने की कोई व्यवस्था नहीं है; प्रत्येक प्राणी को स्वयंकृत कर्मों का फल अकेले ही भोगना होगा। जैसा कि कहा है ह

शुभ-अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एक हि ते ते ।

सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी ॥

जल-पय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला ।

तो प्रकट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा ॥

शुभ और अशुभ कर्मों के जितने भी फल प्राप्त होते हैं; उन सभी को जीव स्वयं अकेले ही भोगता है। उक्त फल भोगने में स्त्री-पुत्रादि साथी नहीं हैं; क्योंकि सभी लोग स्वार्थ के साथी हैं।

यद्यपि जिसप्रकार दूध और पानी का मिलाप होता है, उसीप्रकार का मिलाप जीव और शरीर का है; तथापि जिसप्रकार दूध और पानी भिन्न-भिन्न ही हैं, उसीप्रकार शरीर और जीव भी भिन्न-भिन्न ही हैं। जब शरीर और जीव की यह स्थिति है तो फिर धन, मकान, पत्नी और पुत्र तो प्रगट रूप से भिन्न ही हैं; वे अभिन्न कैसे हो सकते हैं ?

पण्डित भूधरदासजी भी इस बात को इसीप्रकार प्रस्तुत करते हैं ह

आप अकेला अवतरे मरे अकेला होय ।

यो कबहूँ या जीव को साथी सगा न कोय ॥

जहाँ देह अपनी नहीं तहाँ न अपना कोय ।

घर सम्पत्ति पर प्रगट हैं, पर हैं परिजन लोय ॥

यह जीव स्वयं अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरण को प्राप्त होता है। इसप्रकार इस जीव का कोई सगा साथी नहीं है।

अरे भाई ! जब शरीर ही अपना नहीं है, तब अन्य कोई अपना कैसे हो सकता है ? घर, सम्पत्ति और कुटुम्बीजन तो प्रगट रूप से पर हैं; उन्हें अपना कैसे माना जा सकता है ?

एकत्व और अन्यत्व भावना के सन्दर्भ में भी जगत की समझ ठीक नहीं है; क्योंकि इनके चिन्तन से भी यह खेद-खिन्न हो जाता है।

‘इस जीव के जन्म-मरण में, सुख-दुःख में; माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि कोई साथ नहीं देता, सबकुछ अकेले ही भोगना पड़ता है’ ह् उक्त चिन्तन वैराग्योत्पादक नहीं, द्वेषोत्पादक है; क्योंकि अबतक यह सोचकर कि ये कुटुम्बीजन सुख-दुःख में मेरा साथ देंगे, उनसे राग करता था और अब यह जानकर कि साथ नहीं देते, द्वेष करने लगता है।

बारह भानाओं के चिन्तन से तो रागभाव टूटकर वैराग्यभाव होना चाहिये; पर इस चिन्तन से तो राग के स्थान पर द्वेषभाव होगा।

अरे भाई ! बात यह है कि स्त्री-पुत्रादि साथ देते नहीं हैं या दे नहीं सकते ? ह् दोनों बातों में बहुत बड़ा अन्तर है।

जब हम यह सोचते हैं कि साथ देते नहीं हैं तो राग के स्थान पर द्वेष हो जाता है; किन्तु जब हम यह सोचते हैं कि साथ दे नहीं सकते, तब राग-द्वेष का अभाव होकर वैराग्य हो जाता है, वीतरागभाव पैदा होता है, साम्यभाव पैदा होता है।

वस्तुस्थिति भी यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयंकृत कर्मों का फल स्वयं ही भोगना होता है, कोई अन्य व्यक्ति उसे बाँट नहीं सकता।

इसीप्रकार इसे इस बात का दुःख है कि इस जीव को जन्म-मरण के दुःख भी अकेले ही भोगने पड़ते हैं, स्वर्ग-नरक-निगोद में भी अकेले ही जाना पड़ता है।

पर भाईसाहब ! सोचने की बात यह है कि क्या आप यह चाहते हैं कि आपके साथ ही आपके बाल-बच्चे भी मर जावें ? नहीं तो फिर यह शिकायत क्यों ? जन्म के सम्बन्ध में भी बात ऐसी है कि यदि आपका पुत्र

आपका जन्म का साथी होता तो फिर वह पुत्र नहीं, जुड़वा भाई होता। यदि पत्नी जन्म की साथी होती तो वह भी पत्नी नहीं, जुड़वा बहिन होती।

एक बात यह भी तो है कि मनुष्यगति में तो अधिकांश लोगों का जन्म अकेले ही होता है। यदि आपको जन्म के साथी चाहिये थे तो फिर कूकरी-सूकरी के उदर से जन्म लेते तो वहाँ पाँच-सात का साथ तो मिल ही जाता। इससे भी अधिक का साथ चाहिये तो फिर सर्पिणी के पेट से पैदा होते तो वहाँ हजारों का साथ मिल जाता।

यह तो आप जानते होंगे कि सर्पिणी के एक साथ हजारों बच्चे पैदा होते हैं; पर यह ध्यान रहे वह सर्पिणी कुण्डली मारकर उसमें बच्चों को जन्म देती है और उनके जन्मते ही उन्हें खा जाती है। वे जान बचाकर भागते हैं। मिट्टी में लुक-छिपकर दस-बीस मुश्किल से बच पाते हैं। दस-बीस बचते हैं, तब तो दुनियाँ में इतने साँप हैं। यदि सभी बच जाते तो दुनियाँ में साँप ही साँप होते।

जिस माँ के हजारों बच्चे एकसाथ पैदा होते हैं, उस माँ का हृदय ऐसा निर्दयी होता है कि स्वयं माँ बच्चों को खा जाती है और जिसका बच्चा अकेला पैदा होता है, उसकी माँ उसकी चिन्ता मरते दम तक रखती है।

यदि तुम्हारा काम इतने साथियों से भी न चले तो फिर एक स्थान ऐसा भी है कि जहाँ अनन्त जीव एक साथ जन्मते हैं और एक साथ मरते हैं; उस स्थान का नाम है निगोद। इसप्रकार साथ की भावना निगोद की भावना है और एकत्व की भावना मोक्ष की भावना है।

इस जगत में एकत्व ही सत्य है, शिव है और सुन्दर है। मैंने तो बहुत पहले लिखा था कि ह्

ले दौलत प्राणप्रिया को तुम मुक्ति न जाने पावोगे ।

यदि एकाकी चल पड़े नहीं तो यही खड़े रह जावोगे ॥

पर से भिन्नता और अपने में अखण्डता-एकता आत्मा का सौन्दर्य है; यह आत्मा का परम सौभाग्य है, क्योंकि यह आनन्द का जनक है।

अनित्य, अशरण और संसार भावना में संयोगों की अनित्यता, अशरणता और असारता बताने के उपरान्त एकत्व और अन्यत्व भावना में आत्मा का स्वयं से एकत्व और पर से भिन्नत्व की चर्चा करने पश्चात् अब अशुचि भावना में अत्यन्त नजदीक के संयोगरूप शरीर की अशुचिता की चर्चा करते हैं।

आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाही इस शरीर की वास्तविक स्थिति क्या है ? ह् यह बताते हुये पण्डित दौलतरामजी इसी छहढाला में लिखते हैंह्

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तैं मैली ।

नव द्वार बहै धिनकारी, अस देह करै किम यारी ॥

कफ, चर्बी आदि से मैली-कुचेली यह देह मांस, खून एवं पीपरूपी मल की थैली है। इसके आँख, कान, नाक, मुँह आदि नौ द्वारों से निरन्तर घृणास्पद मैले पदार्थ ही बहते रहते हैं। हे आत्मन् ! तू ऐसी घृणास्पद इस देह से यारी (मित्रता, स्नेह) क्यों करता है ?

(क्रमशः)

(पृष्ठ - 3 का शेष ...)

के रचयिता श्री अलालुद्दीक रूसी ने दिगम्बरत्व का खुला उपदेश दिया है।

उन्होंने 'अब्दल' दरवेश को याद करते हुए कहा कि एक तार्किक मस्त नंगे अब्दल दरवेश से आ उलझा। उसने सीधे से कह दिया कि 'जा अपना काम कर ! तू नंगे के सामने टिक नहीं सकता। जाते-जाते एक बात सुन जा ! वस्त्रधारी को हमेशा धोबी की फिर लगी रहती है, किन्तु नंगे तन की शोभा देवी प्रकाश से है। या तो तू नंगे दरवेशों से कोई सरोकार मत रख अथवा उनकी तरह ही तू भी आजाद और नंगा हो जा और अगर तू एकसाथ सारे कपड़े नहीं उतार सकता तो कम से कम कपड़े पहन और मध्यममार्ग को ग्रहण कर !'

इसप्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक श्रमण एवं वैष्णव साहित्य में यहाँ तक कहा गया है कि दिगम्बर मुनि हुए बिना मोक्ष की साधना एवं कैवल्य प्राप्ति संभव नहीं है।

हूँ 'चलते-फिरते सिद्धों से गुरु' प्रस्तावना से उद्धृत

सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा मान्यता प्राप्त 'पत्राचार प्राकृत सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम' एवं 'पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम' में प्रवेश योजनानुसार प्राकृत सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम अवधि 1 जनवरी 2008 से 31 दिसम्बर 2008 तक एवं अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम अवधि 1 जनवरी से 31 दिसम्बर 2008 तक है। प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा सीखने का इच्छुक कोई भी व्यक्ति इसमें प्रवेश ले सकता है। आवेदन पत्र व नियमावली कार्यालय से निःशुल्क प्राप्त की जा सकती है। शुल्क सहित आवेदन पत्र अकादमी कार्यालय में पहुँचने की अन्तिम तिथि 15 दिसम्बर 2007 है।

सम्पर्क : निदेशक, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड़, जयपुर हूँ 302004

स्लिपडिस्क रोगी ध्यान दें !

सम्पूर्ण उपचार बिना दवा, बिना कसरत, बिना चीरफाड़, बिना आराम किए विश्व की नवीनतम तकनीक माइक्रो एक्स्प्रेसर द्वारा शीघ्र उपचार।

डॉ. पीयूष त्रिवेदी (मो.) 09828011871

गोल्ड मेडलिस्ट, बी.ए. एम.एस., एम.डी. (एक्यू.)

डिप्लोमा इन योगा, सुजोक (मास्को) एफ.ए.आर.सी. एस. (लंदन)

मेडिनोवा पोली क्लीनिक, केसरगढ, जे.एल.एन. मार्ग, जयपुर

समय : सायं 6 बजे से 9 बजे तक, रविवार को प्रातः 8 से 12 बजे तक

नोट-एक्स्प्रेसर सेवा समिति द्वारा 300 से अधिक निःशुल्क शिविर आयोजित।

अन्य रोग : जोड़ों का दर्द, गर्दन का दर्द, मोटापा, मायोपैथी, मानस विकृतियाँ, मधुमेह तथा उच्च रक्तचाप आदि की सफल चिकित्सा।

पाठकों के पत्र....

अल्पज्ञ भी समझ सकते हैं ...

आचार्य कुन्कुन्द विरचित ग्रंथराज समयसार पर डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'ज्ञायकभाव प्रबोधिनी' टीका को पढ़कर कांधला (उ. प्र.) से प्रवीणकुमारजी 'संवेगी' लिखते हैं कि हूँ

“ मैंने आपके द्वारा लिखित समयसार अनुशीलन एवं समयसार का सार आद्योपान्त पढ़ा है। स्वामीजी के प्रवचनरत्नाकर के सभी भाग भी पूरे मनोयोग से पढ़े हैं। समयसार नाटक, अध्यात्म तरंगिणी एवं पाण्डे राजमलजी की कलश टीका भी पढ़ी है, परन्तु जब मैंने आपके द्वारा लिखित ज्ञायकभाव प्रबोधिनी टीका पढ़ी, तो मेरा मन गद्गद हो गया। इसके माध्यम से मुझे जैसे अल्पज्ञ भी समयसार जैसे ग्रंथाधिराज को समझ सकते हैं; इसका श्रेय आपको ही जाता है।

आपका साहित्य मैं बहुत रुचि से पढ़ता हूँ, जो भी पढ़ता हूँ, आद्योपान्त पढ़ता हूँ। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि आपकी लेखनी जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में चलती रहेगी और प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड में भी जिनवाणी का सरलरूप हमारे समक्ष उपलब्ध होगा। आप जिनवाणी की अनवरत सेवा करते रहें हूँ इसी पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ।”

डॉ. भारिल्ल के आगामी कार्यक्रम

21 से 26 नवम्बर 07	अहमदाबाद	वस्त्रापुर पंचकल्याणक
9 से 12 दिसम्बर 07	भोपाल	सिद्धचक्रविधान
23 से 29 दिसम्बर 07	उदयपुर	सिद्धचक्र विधान व फैडरेशन अधिवेशन
30 दिस. से 6 जनवरी 08	चैन्नई	व्याख्यानमाला

प्रति,



सम्पादक : पण्डित रतनचन्द भारिल्ल शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्रबन्ध सम्पादक : पण्डित संजीवकुमार गोधा, डबल एम.ए. (जैनविद्या व तुलनात्मक धर्मदर्शन; इतिहास), नेट, एम.फिल

प्रकाशक एवं मुद्रक : ब्र. यशपाल जैन द्वारा जैनपथप्रदर्शक समिति के लिए जयपुर प्रिण्टर्स प्रा.लि., एम. आई. रोड, जयपुर से मुद्रित तथा त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स, ए-४, बापूनगर, जयपुर से प्रकाशित।

यदि न पहुँचे तो निम्न पते पर भेजें -
ए-४ बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५ (राज.)
फोन : (०१४१) २७०५५८१, २७०७४५८
फैक्स : (०१४१) २७०४१२७